साहित्य शास्त्र में औचित्य–विचार ऐतिहासिक अनुदृष्टि

डॉ0 इन्दिरा जुगरान
एसोसिऐट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय नई टिहरी,
टिहरी गढ़वाल

सारांश

संस्कृत–साहित्य की दीर्घ कालीन परम्परा में समय–समय पर अलंकार, रीति वक्रोक्ति एवं रस (रस–ध्वनि) को उनके प्रतिष्ठापकों ने काव्य का आत्मभूत तत्व माना है। काल–क्रम में काव्य के ये मार्ग तो बहुत ही प्रशस्त और सर्वाधिक मान्य रहा। महान दार्शनिक एवं काव्यशास्त्र के महारथी आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वनि (रस) के सिद्धान्त को इस तरह सुदृढ़ कर दिया तथा आचार्य मम्मट एवं कविवर विश्वनाथ ने उसे इस प्रकार मान्य एवं ग्राह्य बना दिया कि रस–ध्वनि की प्रतिष्ठा सदा के लिए अमर हो गयी। काव्य का आत्मत्व रस है। इसमें किसी को लेश मात्र भी विप्रतिपत्ति नहीं रह गयी। साथ ही किसी अन्य परवर्ती आचार्य में इतना सामर्थ्य न रहा कि रस–मार्ग का खण्डन करता और अपना नवीन मत समीक्षा जगत में प्रचलित करा पता।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का आत्मभूत तत्व माना है, किन्तु वह भी अन्त में चल न पाया। ग्यारह्वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब कि रस–सिद्धान्त पूर्णतः स्थिर हो चुका था। साहित्य–जगत में कविवर क्षेमेन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। क्षेमेन्द्र साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के शिष्य थे। विचारणीय बात है कि क्षेमेन्द्र जैसी विद्गधता एवं लोकोत्तर प्रतिभा वाले विद्वान ने औचित्य को आत्मतत्व माना है। जबकि उनके गुरूदेव अभिनव का रसध्वनि सिद्धान्त अपनी जड़ जमा चुका था। इसका यही तात्पर्य है कि औचित्य–सिद्धान्त कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं था जो अलंकार रीति इत्यादि की भांति केवल बाह्य शोभाधायक तत्व बन कर रह गया हो, जिसका प्रतिपादक एक सिद्धान्त के रूप में कविवर क्षेमेन्द्र ने किया। यहाँ औचित्य तत्त्व के इतिहास पर संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

यह सत्य है कि औचित्य के जन्मदाता स्वयं क्षेमेन्द्र नहीं है, बल्कि औचित्य का विचार आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में भी किया गया है। भरत से लेकर नवी शताब्दी के आचार्य आनन्दवर्द्धन तक औचित्य का नामोल्लेख किये हुआ है। अतः औचित्य के प्रवर्तन का श्रेय भरत से लेकर आनन्दवर्द्धन तक होने वाले आचार्यों को दिया जाता है किन्तु औचित्य को एक सिद्धान्त मानकर उसे काव्य का आत्मभूत तत्व मानने का श्रेय क्षेमेन्द्र को ही है।

भरत में औचित्य का स्थान

भरत ने नाट्यशास्त्र में नाट्य पर विचार किया है उनके अनुसार लोक का अनेक विध अनुकरण ही नाट्य कहलाता है। लोक ही नाट्य की कसौटी होती है। नाट्य पर लोक की गहरी छाया है, स्पष्ट प्रभाव है। लोक में जिसके वेश, रूप, अवस्था, कार्य आदि जैसे हों, नाट्य में भी उसी प्रकार का अनुकरण किया जाना चाहिए। यह आचार्य भरत का कथन है। जो बात लोक–सिद्ध होती है, वही सभी माने में सिद्ध मानी जाती है। लोक की प्रकृति एवं शील (चरित्र) जैसे हों वैसे ही नाट्य में भी प्रकृति एवं शील का दिग्दर्शन कराना चाहिए। तात्पर्य यह है कि लोक–धर्म–जग की रीति–को ही भरत ने नाट्य का एक मात्र प्रमाण माना है। लोक ही नाट्य का नियामक होता है। आहार्य–अभिनय के सम्बन्ध में उनकी उक्ति है कि प्रकृति रस के अनुकूल ही पात्रों की वेश–भूषा होनी चाहिए।

एतद्विभूषणं नार्या आकेशादानरवादपि।
यथाभावरसावस्थं विज्ञायैवं प्रयोजयेत।।

(नाटय शास्त्र 23/42)

भरत ने रस को ही नाट्य का प्रधान तत्व माना है। इसलिए नाट्य की प्रत्येक वस्तु रस के अनुकूल ही होनी चाहिए। इसी तथ्य को भरत ने 'रस प्रयोग' के नाम से पुकारा है। जो भी वस्तु नाट्य में प्रयुक्त हो, उसे प्राकरणिक रस का बाधक नहीं होना चाहिए। इसीलिए उन्होंने प्रकृति और शील पर जोर दिया है।

ननाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम।

(नाटय शास्त्र 26/113–119)

भरत का कथन है कि अवस्था के अनुरूप वेश होना चाहिए, वेश के अनुरूप गति और गति के अनुरूप ही पाठ्य–पाठ्य के ही अनुरूप अभिनय होना चाहिए।

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः वेषानुरूपश्च गतिः प्रचारः।
गतिः प्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।।

(नाटय शास्त्र 14, 68)

वेश के सम्बन्ध में भरत का स्पष्ट कथन है कि देश के अनुसार यदि वेश न हो तो वह सौन्दर्यजनक नहीं होता और यह विरूपता उसी तरह हँसी का विषय बन जाएगी जैसे गले में यदि कोई करधनी पहन लें।

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैदोपजायते।।

(नाटय शास्त्र 23 । 69)

बिल्कुल इसी भाव को क्षेमेन्द्र ने "औचित्य–विचार–चर्चा" में सविस्तार कहा है– "कण्ठ में करधनी, नितम्बों पर चंचल हार, हाथों में नुपूर और पैरों में केयर पहनने से निर्बल पर शूरत तथा शत्रु पर दया–भाव दिखाने वाले की तरह ही किसकी हंसी न होगी।" बिना औचित्य के अलंकार मन को नहीं भाते।

गुणों और दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था का बीज भी भरत ने ही बो दिया था। प्रकरण के अनुसार उचितानुचित प्रयोग गुण दोष का कारण बनता है। जो प्रकृत–रस के अनुरूप है और उचित है, वही रस का पोषक धर्म और गुण है और जो उसका परिपन्थी है वही रसास्वाद का घातक है और दोष है। ऊपर कहे गये 'अदेशजो हि वेषस्तु' इत्यादि में अनुचित स्थान विन्यास के कारण इसी बात की ओर संकेत है।

उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि भरत के अनुसार सामंजस्य का नामान्तर ही औचित्य है अंगी और अंग का सामंजस्य मुख्य और गौण का पूर्ण एवं अंश का सामंजस्य ही औचित्य है। इसी समंजसता में काव्य का सौन्दर्य निहित होता है। भरत में प्रवृत्ति, वृत्ति, गुण, अलंकार, आहार्य, अभिनय, पाठ्य, गुण, स्वर इत्यादि के प्रसंग में 'रस–प्रयोग' की चर्चा की है। जिसका तात्पर्य है कि ये प्रवृत्ति, वृत्ति आदि यदि प्रकृत रस के अनुरूप प्रयुक्त होते हैं तभी काव्य का सौष्ठव है। इससे स्पष्ट है कि भरत ने औचित्य–तत्व का पूर्ण आदर किया है, भले ही उन्होंने औचित्य शब्द का उल्लेख नहीं किया।

माघ, भामह और दण्डी

महाकवि माघ भी औचित्य के समर्थक दिखलायी देते हैं–

तेजः क्षमा व नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः।
नैकमोजः प्रसादों वा रसभावविदः कवेः।

(शिशुपालवध 2/83)

कवि का कथन है कि यशस्वी, विजिगीषु और काव्य शासन तभी सफल होता है जब उसमें परिस्थिति के अनुरूप नीति–प्रयोग की कुशलता है। जिस प्रकार रस–सिद्ध कवि रसानुरूप ही ओज या माधुर्य गुणों का प्रयोग करता है क्योंकि रसपरक गुणों की सुयोजना से ही काव्य उत्तम कोटि का बनता है, उसी तरह सफल शासक अवसर के अनुकूल ही कहीं तेज एवं कहीं क्षमा की भावना दिखलाता है, क्योंकि इसी में उनकी सफलता है। जिस प्रकार गुण का उचित प्रयोग ही अभीष्ट रस–निृपत्ति करता है। उसी तरह उचित नीति–प्रयोग अभीष्ट कार्य सिद्ध करता है अवसर के अनुकूल कार्य का होना ही औचित्य है। अंग्रेजी का शब्द 'Adaptation' इसी भाव का अभिधान करता है। अतः निःसंदेह कविश्रेष्ठ माघ औचित्य को मानते हैं।

भामह ने गुणों के सम्बन्ध में औचित्य का वर्णन किया है। उनके अनुसार ये दोष कभी–कभी दोष नहीं रह जाते, उल्टे काव्य में सौन्दर्य भर देते हैं। कहीं–कहीं प्रयोग की विशेषता से अनुचित उक्ति भी शोभा देती है–जैसे फूलों की माला के मध्य में (विसदृश) नीलकमल भी शोभावर्धक होता है। आश्रय की सुन्दरता से असाधु भी सुन्दर बन जाता है। काला अंजन भी नायिका के नयनों में पड़ कर शोभाजनक हो जाता है–

सन्निवेशविशेषात्तु दुरूक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमावद्धमन्तराले स्रजामिव।।
किंचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवांजनम्।

(काव्यालंकार, प्रथम परिच्छेद)

इस पंक्तियों को पढ़ने पर लेश मात्र भी सन्देह नहीं रह जाता है कि उनके अन्तर्गत किया गया गुण विचार औचित्य पर ही आधारित है। दोष और गुण, नित्य और प्रकृतिगत नहीं होते बल्कि परिस्थिति के अनुसार गुण दोष बन जाते हैं और दोष भी गुण बन जाया करते हैं–

विरोधस्सकलोऽप्येष कदाचित्कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथी विगाहते।।

(काव्यादर्श 4/5–7)

औचित्य ही गुण–दोष का नियामक तत्व होता है। अतः स्पष्टतः दण्डी की समीक्षा में भी औचित्य की पूरी मान्यता रही है।

आनन्दवर्धन : औचित्य का प्रथम नामोल्लेख

आचार्य आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम औचित्य का विशद एवं विस्तष्त विवेचन किया साहित्य शास्त्र की अब तक की परम्परा में ये प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने औचित्य का नामोल्लेख किया। आनन्दवर्धन ही विशेष रूप से क्षेमेन्द्र की औचित्य सम्बन्धी विचारधारा के मूल स्रोत रहे। आनन्दवर्धन ने छः प्रकार के औचित्य का प्रतिपादन किया है–रसौचित्य, अलंकारौचित्य, गुणौचित्य, संगठनौचित्य, प्रबन्धौचित्य और रीत्यौचित्य।

आनन्दवर्धन ने गुणौचित्य का वर्णन किया है गुण, रस के धर्म होते हैं। गुणों की अभिव्यंजना वर्णों के द्वारा होती है। विप्रलम्भ एवं सम्भोग श्रृंगार में माधुर्य गुण के व्यंजक एवं रौद्र तथा वीर रस में ओजगुण व्यंजक वर्णों का प्रयोग होना चाहिए। इसी तरह अन्य रसों के अनुकूल ही गुणों का प्रयोग होना चाहिए। काव्य में रस की प्रधानता के लिए शब्द ओर अर्थ की योजना औचित्यमयी होनी चाहिए। रस सम्बन्धी स्थलों में यदि औचित्य की रक्षा न की गयी तो अंगीरस का पूर्ण आस्वादन नहीं मिल सकेगा, क्योंकि रसभंग का एक मात्र कारण अनौचित्य ही होता हैः–

अनौचित्यादष्ते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यवन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।

(ध्वन्यालोक 3/10)

औचित्यपूर्ण रस का प्रयोग ही रस का महान रहस्य है। अंगी और अंगरसों का अविरोधपूर्ण वर्णन तभी सम्भव है, जबकि विरोधी या अविरोधी रस को अंगीरस में परस्पर मिला–जुला कर वर्णन न किया जाए।

(ध्वन्यालोक 3/24)

औचित्य के इतिहास में आचार्य अभिनवगुप्त का नाम महत्वपूर्ण है। उन्होंने औचित्य पर विस्तृत विचार करने वाले ध्वन्यालोक ग्रन्थ पर टीका लिखी। इसलिए उनका औचित्य–तत्व के प्रति दृष्टिकोण भी आनन्दवर्धन के समान ही है। अभिनव का कथन है कि रस ध्वनि की सिद्धि में औचित्य का नाम लेते ही हमारे सामने सीधे एक प्रश्न उठता है कि उचित किसी अन्य वस्तु के लिए ही कहा जाता है। क्योंकि कोई वस्तु स्वयं में उचित या अनुचित तो होती नहीं वह किसी इतर वस्तु की अपेक्षा रखती है, जिसके लिए वह उचित या अनुचित हुआ करती है। वे सभी वस्तुएँ

जिस तत्व के लिए उचित या अनुचित होती है। वह एक मात्र शिरोमणिभूत काव्य का आत्मतत्व रस–ध्वनि ही है :–

उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेंः जीवितत्वं सूचयन्ति।

(लोचन)

अलंकारौचित्य के प्रसंग में उनका कथन है कि अलंकार का सबसे महान औचित्य यह है कि वह अलंकार्य तत्व (रस–ध्वनि) के लिए हो, क्योंकि अलंकार शब्द तभी सार्थक होगा जब उसका कोई अलंकार्य तत्व रहे, अन्यथा शव को सजाने की तरह ही अलंकार भी व्यर्थ है। अतः अलंकार भी आत्मभूत रस–ध्वनि को ही अलंकृत करते हैं। वीतराग सन्यासी के शरीर पर अलंकार हास्यास्पद ही होते हैं, साथ ही अनुचित भी लगते हैं। इसका कारण यही है कि अलंकार्य–यति–शरीर–अलंकारों के लिए अनुचित है :–

तथा ह्यचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलंकार्यस्याभावत्।
यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलंकार्यस्यानौचित्यात्।

(लोचन)

अभिनव–गुप्त ने औचित्य को एक सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार उस वस्तु या तत्व को सब से पहले ढूँढ़ना चाहिए। जिनके सम्बन्ध में औचित्य बंधा रहता है और वह तत्व रस ध्वनि ही है। अतः औचित्य रस ध्वनि की सदा अपेक्षा रखता है। यह स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त ने भी आनन्दवर्धन की भाँति औचित्य को गौण स्थान दिया है।

भोज, कुन्तक और महिम भट्ट–

भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में औचित्य का प्रतिपादन किया है उन्होंने अर्थ–दोषों में औचित्य–विरूद्ध नामक एक दोष स्वीकार किया है। वे 'औचित्य' को भाषा तथा शैली का गुण मानते हैं। इसी प्रकार विषय, वाच्य, देश, काल आदि औचित्य का वर्णन उन्होंने किया है। औचित्य को वे काव्य का एक गौण अंग ही मानते हैं।

आंजसेन स्वभावस्य महत्वंयेन पोप्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानिजीवितम्।।

(वक्रोक्तिजीवित 1/43)

कुन्तक के मत में औचित्य काव्य–सौन्दर्य अथवा वक्रता का अनिवार्य किन्तु एक सामान्य गुण मात्र है, अन्य कुछ नहीं।

आचार्य महिम भट्ट रस को परम तत्व मानते हैं। रस, भाव, प्राकृतिगत औचित्य को इन्होंने स्वीकार किया है। शब्द एवं अर्थगत औचित्य की गणना भी इन्होंने की है जिनमें केवल शब्दगत औचित्य पर विचार किया गया है। और अर्थगत औचित्य को यह कहकर छोड़ दिया गया है कि आनन्दवर्धन ने उसका वर्णन कर ही दिया है। महिम भट्ट के शब्दगत औचित्य वस्तुतः पाँच प्रकार के दोष ही हैं– विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पुनरूक्ति और अधिकपदत्ता। उनके मत में ये दोष ही अनौचित्य है। उन्होंने दोषों के अभाव को ही औचित्य समझा है। महिम भट्ट के बाद

दुर्भाग्य से यही परिपाटी चल पड़ी और बाद के आचार्यों ने प्रायः औचित्य को दोषाभाव ही माना, जिसका कि औचित्य के अनुयायी उद्‌गाता कविवर क्षेमेन्द्र ने जोरदार खण्डन किया है।

क्षेमेन्द्र–कृत सर्वांगीण विवेचन –

औचित्य का सर्वांगीण विवेचन आचार्य क्षेमेन्द्र ने किया। काव्य–सामान्य को परखने की कसौटी औचित्य है। उनके अनुसार औचित्य ही काव्य का शिरोमणिभूत आत्मत्व है। औचित्य रस का भी जीवन है। क्षेमेन्द्र का कहना है कि काव्य में यदि अनौचित्य रहे तो भले ही वह अलंकारों एवं गुण इत्यादि काव्य के शोभाधायक तत्वों से युक्त हो, किन्तु वह काव्य व्यर्थ है। अलंकार तो कुण्डलादि की तरह अलंकार ही है और गुण भी शौर्यादि की भाँति काव्य के गुणमात्र है। काव्य का स्थिर जीवित तो औचित्य है। उनके अनुसार रस काव्य का केवल स्थिर जीवित है। क्षेमेन्द्र की सम्पति में रस का क्षेत्र औचित्य की परिधि के अन्तर्गत आ जाता है। अलंकार एवं गुणों का एक मात्र कार्य है काव्य को सुन्दर और मनोहर बनाना और वह तभी सम्भव हो सकेगा जबकि अलंकारों एवं गुणों का प्रयोग काव्य में उचित ढंग से किया गया हो।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य की बड़ी गम्भीर एवं मार्मिक परिभाषा की है कोई भी वस्तु यदि किसी वस्तु के अनुरूप या अनुकूल होती है तो विद्वान लोग उस वस्तु को उचित कहते हैं और उचित भाव को ही औचित्य कहते हैं।

उचितं प्राहुराचार्याः सृदशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

(औचित्य–विचार चर्चा)

परूष व्यंजनों का शब्दाडम्बर श्रृगांर रस का परिपन्थी हो सकता है किन्तु वीर एवं रौद्र रसों में वही शब्दाडम्बर गुण बन जाता है।

रस को काव्य की आत्मा मानने वाले साहित्याचार्यों के प्रति क्षेमेन्द्र का कथन है कि रस तो काव्य का स्थिर तत्व होता है, स्थिर तत्व तो औचित्य ही है :–

औचित्यस्य चमत्कारिणश्चारूर्वर्ण।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरूतेऽधुना।।

(औचित्य–विधार चर्चा)

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का आत्मभूत तत्व माना है और रस को काव्य का जीवन माना है जिस प्रकार मानव को आत्म एवं जीवन तत्व दोनों की समान आवश्यकता होती है ठीक उसी तरह काव्य को जीवनस्वरूप रस की तथा आत्मस्वरूप औचित्य की आवश्यकता है। क्षेमेन्द्र कहना है कि उचित स्थान पर प्रयुक्त होने से ही अलंकार–अलंकार कहलाते है तथा औचित्य से युक्त हो कर ही गुण–गुण कहला सकते हैं अन्यथा अनुचित, स्थान पर प्रयुक्त होने पर अलंकार दूषण बन जाते है तथा गुण दुर्गण हो जाते है।

उचितस्थानविन्यासादलड़कृतिरलड़कृतिः।
औचित्यादच्युतानित्यं भवन्त्येव गुणागुणाः।।

(औचित्य–विचार चर्चा)

क्षेमेन्द्रोत्तर आचार्य

क्षेमेन्द्र के बाद औचित्य पर किसी आचार्य ने विस्तृत विचार नहीं किया। आचार्य मम्मट एवं कविवर विश्वनाथ ने औचित्य को गुण दोषों तक ही सीमित रखा। भामह, दण्डी आदि की भांति ही मम्मट का कथन है कि औचित्य के समावेश से काव्य में कहीं–कहीं दोष भी गुण हो जाते है और कहीं न गुण न दोष :–

वक्त्राधानौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचितक्वचित्रोभी।

(काव्यप्रकाश)

साहित्य–माहरथी पण्डितराज जगन्नाथ ने भी शब्दसामर्थ्य के सम्बन्ध में औचित्य को काव्य का गुण माना है इससे अधिक कुछ नहीं। "सरस्वती कण्ठाभरण" के रचयिता भोज ने औचित्य पर बड़े संक्षेप में विचार किया है। रस सिद्धान्त के समर्थक होने के कारण भोज ने औचित्य को काव्य शैली तथा भाषा के अधीन स्थान दिया है।

कविवर विश्वनाथ ने भी मम्मट की भाँति औचित्य को गुण–दोषों के नियामक के रूप में प्रस्तुत किया। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि औचित्य का जो स्परूप क्षेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र को प्रस्तुत किया, वह सर्वथा नवीन था। प्रथम बार "औचित्य तत्व" को काव्य का आत्मतत्त्व बनने का सौभाग्य मिला।

वस्तुतः औचित्य ऐसा तत्व है जो काव्य के रूप एवं भावपक्ष दोनों को अपनी परिधि में घेर लेता है। काव्य के बाह्य को सजाने सवारने वाले तत्व हैं अलंकार, गुण, रीति आदि और ह्रदयपक्ष के तत्व है रस, ध्वनि इत्यादि। औचित्य इन सबको अपने घेरे में समेट लेता है। महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री के अनुसार –

औचितीमनुघावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नया।
गुणालङंतिरीतीनां नयाश्चातृजुवाद्यमयाः।।